© 2018 IJSRSET | Volume 4 | Issue 1 | Print ISSN: 2395-1990 | Online ISSN : 2394-4099
Themed Section : Education

साहित्यशास्त्रं व्याकरणस्य परिशिष्टम्

शिवानन्द शुक्ल

विभागाध्यक्ष साहित्य विभाग,

श्री सच्चा अध्यात्म संस्कृत महाविद्यालय,

अरैल, इलाहाबाद।

विषयविभाग

(1) साहित्यम्

(1.1) काव्यम्

(1.2) शास्त्रम्

(1.3) साहित्यस्य शास्त्रत्वम्

(2) व्याकरणशास्त्रम्

(3) साहित्यशास्त्रं व्याकरणस्य परिशिष्टम्

(1) साहित्यम् - 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे'[1]यह कहकर महाभाष्यकार पतञ्जलि ने शब्द एवं अर्थ एवं सम्बन्ध तीनों की नित्यता का प्रतिपादन करते हैं। शब्दार्थ के नित्य सम्बन्ध का समर्थन जैमिनि भी करते हैं- 'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सह सम्बन्धः।'

शब्देन सह अर्थः - सहितः, अर्थेन सह शब्दः - सहितः। सहितं च सहितं च सहिते, सहितयोर्भावः साहित्यम् । अर्थात् शब्द और अर्थ का सहभाव ही साहित्य है। 'यो हि यदर्थमुपादीयते स तद्गुणीभूत' इस न्याय से जहाँ अर्थ का प्राधान्य होता है शब्द गौण होता है

[1] महाभाष्य पश्पशाह्निक।

और जहाँ शब्द का प्राधान्य होता है वहाँ अर्थ गौण होता है। व्याकरण शास्त्र में शब्द का प्राधान्य अर्थ का गौणत्व एवं पुराणेतिहासादि शास्त्रों में अर्थ का प्राधान्य शब्द का गौणत्व होता है। लोक में भी दिखाई देता है कि घटमानय इस प्रयोग में घटरूप अर्थ का आनयन होता है एवं घटमुच्चारय ऐसा कहने पर घट शब्द का उच्चारण किया जाता है अतः शब्द एवं अर्थ दोनों का स्थल विशेष में प्राधान्य होता है।

परन्तु जहाँ शब्द एवं अर्थ दोनों का प्राधान्य हो वह काव्य कहलाता है। वस्तुतः शब्दार्थ का सहभाव काव्य में ही है अतः काव्य ही साहित्य है।

(1.1) काव्यम् - कवेः कर्म (वर्णनात्मकं कर्म) काव्यम् 'गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च' (कर्म अर्थ में ष्यञ् प्रत्यय)। शब्द के अनादि होने से यद्यपि कविकर्मता शब्द के निर्माण में नहीं है तो भी वर्णनीय अर्थ के उपयोगी शब्द के चयन में एवं गुम्फन में तो है ही एवं अर्थ को भी कवि उत्पन्न नहीं करता लेकिन वर्णनीय अर्थ में जो दोष हैं उन्हें हटाकर उन दोषों के स्थान पर गुणों का समावेश करता है। तभी तो वह दोष मुक्त काव्य उपदेश के लिए होता है कि नायक की तरह आचरण करना चाहिए प्रतिनायक की तरह आचरण नहीं करना चाहिए। इस प्रकार कवि की कर्मता नायकादि अर्थ निमार्ण में है।

(1.2) शास्त्रम् - शास्यतेऽनेन इस विग्रह में शास् धातु से करण अर्थ में ष्ट्रन प्रत्यय करने से शास्त्र शब्द निष्पन्न होता है। शास्त्रं च शासनकरणम् ।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च नित्येन कृतकेन वा।
पुंसां येनोपदिश्येत तस्माच्छास्त्रस्य शास्त्रता।

(1.3) साहित्यस्य शास्त्रत्वम् - एक अर्थ के वाचक अनेक शब्द कोशादि में निर्दिष्ट हैं तथापि कोई विशिष्ट शब्द ही उस चमत्कारी अर्थ को कहने में समर्थ होता है जिसका कवि ग्रहण करता है। यथा-

द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः।
कला च सा कान्तिमती कलावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी॥[2]

यहाँ 'कपालिनः' पद ही कपाल अस्थि धारण रूप बीभत्सादि अर्थ का बोधक होने से शोचनीता में अन्वित हो काव्य के अनुकूल होता है न कि 'पिनाकिनः' पद। 'पिनाकिनः' पद से पिनाकिधारण रूप अर्थावगम होने पर वीर रस प्रतीति होने से शोचनीयता असङ्गत हो जाती। इस आशाय का समर्थन ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन भी करते है-

सोऽर्थस्तद्व्यक्तिसार्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन।
यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवेः॥
आलोकार्थी यथा दीपशिखायां यत्नवान् जनः।
तदुपायतया तद्वदर्थे वाच्ये तदादृतः॥[3]

एवं 'कर्णावतंस' पद में अवतंस शब्द कर्णाभूषण का वाचक है, उसी प्रकार 'जघनकाञ्ची' पद में काञ्ची शब्द ही जघनाभूषण का वाचक पुनः कर्ण एवं जघन शब्दों के प्रयोग से पुनरुक्ति दोष दोनों शब्दों में समान रूप से है परन्तु यहाँ काव्यशास्त्र अनुशासन करता है कि कर्णारूढत्व रूप अर्थ के बोधन के लिए कर्णावतंस पद साधु है परन्तु जघनकाञ्ची पद असाधु है, 'स्थितेष्वेतत्समर्थनम्' इस सूत्र से। इस प्रकार प्रयोग शासन करता है काव्य।

---

[2] कुमारसम्भव।

[3] ध्वन्यालोक प्रथम उद्योत (कारिका 8-9)

रामायण आदि काव्य राम की तरह आचरण करना चाहिए रावण की तरह नहीं[4] इस प्रकार कृत्याकृत्यप्रवृत्तिनिवृत्ति का शासन करने के कारण रामायणादि काव्यों का शास्त्रत्व है । अतः विधि निषेध प्रवृत्ति निवृत्त का शासन करने से काव्य का शास्त्रत्व सिद्ध होता है।

काव्यशास्त्र

(१) काव्यं च तत् शास्त्रम् (कर्मधारय) काव्यस्वरूप शास्त्र

(२) काव्यं च शास्त्रं च काव्यशास्त्रे, तयोः उक्तानां शब्दानां निरुक्तिः। (द्वन्द्व गर्भित बहुब्रीहि) काव्यशास्त्रोक्त शब्दानां निरुक्तिः (काव्य एवं शास्त्र में प्रयुक्त शब्दों की निरुक्ति)

काव्यशास्त्रविनोदेन कालोगच्छति धीमताम् ।

(३) काव्यस्य शास्त्रं काव्यशास्त्रम् (षष्ठी तत्पुरुष) काव्य सम्बन्धी शास्त्र। (काव्य के सम्बन्ध में शिक्षा देने वाला ग्रन्थ।)

साहित्यशास्त्रं व्याकरणस्य परिशिष्टम् -

वैयाकरण 'निपाताः द्योतकाः' यह प्रतिपादित कर व्यञ्जना वृत्ति को स्वीकार करते हैं। आलङ्कारिकों में वृत्ति के सम्बन्ध में चमत्कारी अर्थ को कहने में समर्थ व्यञ्जना ही है अतः व्यञ्जना का ही प्रतिपादन आलङ्कारिकों को अभीष्ट है परन्तु यह व्यञ्जना या तो लक्षणामूल होती है या अभिधामूल। अतःअभिधा एवं लक्षणा का प्रतिपादन काव्यशास्त्र में यथा अवसर प्राप्त होता है। तो मेरी मति से व्याकरण एवं अलङ्कार दोनों शास्त्रों में व्यञ्जना का अस्तित्व है।

मीमांसक एवं नैयायिक व्यञ्जना वृत्ति को स्वीकार नहीं करते हैं। व्यञ्जना वस्तुतः वक्ता के वेशिष्ट्य से है। वदों को अपौरुषेय स्वीकार करने वालों के पक्ष में वेद में वक्ता का अभाव होने के कारण वेद वाक्यों का अर्थ प्रतिपादक मीमांसा शास्त्र व्यञ्जना को स्वीकार नहीं करता। कदाचित् व्यञ्जना को न स्वीकार करने में मीमांसकों एवं नैयायिकों का यह भी तर्क हो सकता है कि

[4] काव्यप्रकाश प्रथम उल्लास।

व्यञ्जना में विधि से निषेध रूप अर्थ की प्रतीति एवं निषेध से विधि रूप अर्थ की प्रतीति जैसे काव्य में होती है तदवत् यदि वेद में हो जाएगी तो अव्यवस्था ही फैल जायेगी।

जिस प्रकार रस कहने से रस की प्रतीति नहीं होती है अपितु तत् तत् रसानुकूल विभावादिकोंं से व्यक्त विभावादिकों के साथ स्थायी रस है। उसी प्रकार व्यञ्जना कहने मात्र से व्यङ्ग्यार्थ प्रतीति नहीं होती अपितु तदनुकूल शब्दप्रयोग एवं अर्थ से व्यङ्ग्यार्थ प्रतीत होता है।

व्याकरण एवं काव्य में अङ्गाऽङ्गीभाव है, एक के बिना दूसरा अपूर्ण है इससे व्यक्त होता है कि जो सिर्फ वैयाकरण अथवा सिर्फ आलङ्कारिक है वे वस्तुतः उभय शास्त्रच्युत हैं।

जिस प्रकार ऋषि कल्प मनीषी पृथ्वी में बैठ कर ही नक्षत्रों की गति बता दिया करते थे परन्तु यदि आज कोई नक्षत्रों की गति बताए तो उपहासास्पद ही प्रतीत होता है उसी प्रकार 'कविर्मनीषी परिभूः स्वयभूः' रूप जो लक्ष्यैकचक्षुष कवि उन्हें समस्त पदपदार्थ दृष्ट थे उन्हें पद तथा पदार्थ ज्ञान हेतु व्याकरण की अपेक्षा नहीं थी अतः वे काव्य करते थे। उन ऋषि कल्प कवियों द्वारा विहित प्रयोगों का अन्वाख्यान है व्याकरण। परन्तु आज कवियों के द्वारा व्याकरण के ज्ञान के अभाव में प्रयोग करना उपहासास्पद ही है।

अब प्रश्न यह है कि व्याकरण से प्रयोग निर्वाह होने से काव्य का क्या औचित्य है। यहाँ यह विचारणीय है कि एक धातु हन् ('हन् हिंसा गत्यो) गति एवं हिंसा दोनों अर्थों में पाणिनीय व्याकरण में निर्दिष्ट है तो भी-

तीर्थान्तरेषु स्नानेन समुपार्जितसत्कृतिः।
सुरस्रोतस्विनीमेष हन्ति सम्प्रति सादरम् ॥

इस श्लोक में हन् धातु के गमन अर्थ में प्रयोग होने से दोष है अतः प्रयोग का शासन काव्य ही करता है कि कहाँ हन् धातु गत्यर्थक होगी और कहाँ हिंसार्थक। (हन् धातु उपसन्दान या

उपपद की अपेक्षा करके ही गमन अर्थ देती है। यथा -पदाभ्यां हन्यते गम्यते इति पद्धतिः। वक्रं हन्तीति जघनम् अर्थात् टेढी चाल चलने वाला। जङ्घन्यते कुटिलं गच्छतीति जङ्घा।

जहाँ तक मैं समझता हूँ व्याकरण में निदिष्ट आकृतिगण व्यवस्था, बाहुलक व्यवस्था लक्ष्यानुसारि प्रयोग के ही महत्त्व को प्रतिपादित करते हैं। स्वयं पाणिनि के सूत्रों में कुछ स्थल ऐसे हैं जहाँ प्रयोग के द्वारा नियम निर्देश है। जैसे कि एक बहुत ही प्रसिद्ध स्थल स्मरण आ रहा है 'सहयुक्तेऽप्रधाने' सूत्र में सह शब्द के प्रयोग में सहार्थ में अप्रधान से तृतीया विभक्ति का विधान किया गया है। परन्तु भगवान पाणिनि स्वयं 'वृद्धो यूना तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः' इस सूत्र में सहार्थ होने पर सह शब्द के प्रयोग न होने पर भी अप्रधान से तृतीया विभक्ति का प्रयोग किया है इससे ज्ञापित होता है कि सहार्थ होने पर सह शब्द के प्रयोग के बिना भी अप्रधान से तृतीय होती है। इससे प्रयोग पक्ष की बलवत्ता सिद्ध होती है। यद्यपि शब्दसाधुत्व एवं अर्थ निर्देश व्याकरण शास्त्र में निर्दिष्ट है तो भी काव्य के बिना प्रयोग निर्वाह नहीं हो सकता, एवं व्याकरणज्ञान के बिना प्रयोग की गति ही क्या होगी।

शायद इसी आशय से महर्षि पतञ्जलि 'शब्दस्य ज्ञाने उत प्रयोगे धर्मः'[5] शङ्का करके स्वयं समाधान करते हैं 'शास्त्रपूर्वके प्रयोगे धर्मः'। इससे हम यह अभिप्राय लेते हैं कि न केवल शब्द ज्ञान में धर्म है और न केवल शब्द प्रयोग में धर्म है अपितु ज्ञान पूर्वक प्रयोग में धर्म है। इसी बात का समर्थन श्रुति भी करती है- 'एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गेलोके च कामधुक् भवति।

साहित्यशास्त्रं व्याकरणस्य परिशिष्टम् (खिलभागः)-

काव्यप्रयोजन, कारण, स्वरूप, भेद, दोष, गुण, अलङ्कार, रीति एवं वृत्तियों के प्रतिपादक होने से लक्षण ग्रन्थ भी काव्यशास्त्र कहलाते हैं। सर्वशास्त्रोपकारक व्याकरण शास्त्र को शब्दविद्या पदविद्य पदसाधुत्व शास्त्र कहते हैं। जैसा कि वात्स्यायन ने कहा है - पदलक्षणाया

[5] महाभाष्य पश्पशाह्निक।

वाचोऽन्वाख्यानं व्याकरणम् । कवि भी कहते हैं - 'शब्दविद्येव नो भाति राजनीतिरपश्पशा'। स्वयं माहाभाष्यकार पतञ्जलि 'अथ शब्दानुशासनम्' कहकर व्याकरण को शब्दशास्त्र कहते हैं। शब्द के प्रयोग नियम का साहित्य शास्त्र अनुशासन करता है। भामह ने अपने काव्यालङ्कार एवं वामन ने प्रायोगिक पञ्चम अधिकरण में प्रयोगनियम प्रतिपादित किया है। यथा-

'नैकं पदं द्विः प्रयोज्यं प्रायेण इति।', 'न कर्मधारयो बहुब्रीहिप्रतिपत्तिकरः।', 'एवं सम्बन्धसम्बन्धेऽपि षष्ठी क्वचित्।', 'बलेरात्मनेपदमनित्यं ज्ञापकात्।', 'न पादादौ खल्वादयः।', 'अतिप्रयुक्तं देशभाषापदम्।', द्विरेफशब्दो भ्रमरे प्रयुज्यते द्विक शब्दो काके न प्रयोज्य इत्यादि प्रयोगनियमानुशासनम् ।

दोष-

काव्य का स्वरूप बताते हुए आचार्य ने शब्दार्थौ का प्रथम विशेषण अदोषौ दिया है क्योंकि गुणवती एवं अलङ्कारों से युक्त सुन्दर शरीर वाली नायिका भी एक मात्र स्वत्र दोष से दुर्भग हो जाती है-'स्याद् वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम्।[6]' इसी प्रकार अन्धे पति को प्राप्त कर विलासिनियों के कटाक्ष बाण भी विफल ही हो जाते हैं।

'अन्धं पतिं प्राप्य विलासिनीनां कटाक्षबाणा विफलाभवन्ति।' दोषों के सन्दर्भ में साहित्य शास्त्र में प्रतिपादित प्रायः दोष व्याकरण सिद्धान्तों से फलित हैं।

(१) विधयाविमर्शः - विधेयः प्रधानं भवति, तस्याविमर्शः, अथात् उपसर्जनीकरणम् । यथा- दस्याः पुत्रः वृषवल्याः कामुक इत्यादौ षष्ठी समासं विधायापि महर्षिपाणिनिः पुत्रे कामुके च आक्रोशादपकर्षप्रतिपत्तये 'षष्ठ्या आक्रोशे' इति सूत्र प्रणिनाय। तेन च षष्ठी विभक्तेरलुक्कृतः। अन्यथा दासीपुत्र इत्यत्र समासत्वात् प्रातिपदकत्वे विभक्तिलुकि तत्पुरुषे उत्तरपदार्थस्य

[6] काव्यदर्श।

प्राधान्यात् पुत्रेऽपकर्षप्रतीतिर्याऽपेक्षिता वर्तते सा न स्यात् । आक्रोशप्रतिपत्तये विभक्तिः कारणमित्यलुकमाह षष्ठ्याः। पुत्रे दासीजन्यत्वेनेवापकर्षः प्रतीयते। अत आक्रोशप्रतिपत्तये प्रधानं, तत्पुरुषसमासे पूर्वपदार्थस्याप्राधान्यात् गुणीभावाद् व्याहता स्यात् , अतो विधेयप्राधान्यप्रातिपादनाय समासं विधायापि विभक्तेरलुकमाह।

(२) प्रक्रम भेदः - जिससे आरम्भ हो उसी से समाप्ति भी हो यह नियम है परन्तु जहाँ आरम्भ से भिन्न क्रम में प्रयोग हो अर्थात् अन्यथा क्रम में प्रयोग हो वह प्रक्रमभेद नामक काव्यदोष कहलाता है। यह दोष पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य में स्पष्ट प्रतिपादित किया है। अष्टाध्यायी में पाणिनि ने 'स्वामीश्वराधिपतिदायादसाक्षिप्रतिभूप्रसूतैश्च' सूत्र से स्वामी ईश्वरादि के योग में षष्ठी एवं सप्तमी दोनों विभक्तियाँ कहीं हैं। यथा - गवां स्वामी तथा गोषु स्वामी यह दोनों प्रयोग शुद्ध हैं। इसी प्रकार गवां स्वामी अश्वानां च यह प्रयोग भी शुद्ध है तथा गोषु स्वामी अश्वेषु च यह प्रयोग भी शुद्ध है। परन्तु महाभाष्यकार पतञ्जलि गवां स्वामी अश्वेषु च इस प्रयोग को अशुद्ध कहते हैं। कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि इस सूत्र के भाष्य में आचार्य स्वायं प्रतिपादित करते कि गोषु अश्वानां च स्वामी यह प्रयोग शुद्ध नहीं है। आरम्भ तथा उपसंहार दोनों का एक ही विभक्ति से निर्वाह करना चाहिए प्रक्रमभङ्ग का आचारण नहीं करना चाहिए।

(३) क्रमभेदः- क्रम भेद अर्थात् व्युत्क्रम। अलङ्कारशास्त्र में निर्दिष्ट इस क्रमभेद दोष का भी प्रतिपादन अस्थानप्रयोगलक्षण के रूप में किया है। कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि सूत्र के भाष्य में महाभाष्यकार पतञ्जलि कृञ् का अनुप्रयोग क्यों यह शङ्का स्वयं उठाकर विपर्यासनिवृत्ति के लिए तथा व्यवहिति निवृत्ति के लिए यह कहकर समाधान करते हैं। अनु पदार्थ पर्यालोचन से आमन्त से अव्यवहितोत्तर कृ भू तथा अस् का प्रयोग करना चाहिए व्यवहित तथा विपरीत प्रयोग नहीं करना चाहिए। अतः इहाश्वक्रे यह प्रयोग साधु है तथा देवदत्तश्वक्रे यह व्यवहित प्रयोग असाधु है।

(४) पौनरुक्त्यम् - अलङ्कारशास्त्र में उक्त का पुनः उसी क्रम से कथन पुनरुक्ति दोष कहलाता है। तद्वान् यह अर्थ बहुब्रीहि समास तथा मत्वर्थी प्रत्यय दोनों से प्रतीत होता है। पीताम्बर धारण करने वाला यह अर्थ इष्ट हो तो यह दो प्रकार से सम्भव है प्रथम पीत तथा अम्बर पद का कर्मधारय समास कर पुनः उससे मत्वर्थी प्रत्यय करने से यह अर्थ हो जाएगा। और द्वितीय प्रकार यह है कि पीत तथा अम्बर पद का बहुब्रीहि समास होने से पीत अम्बर धारण करने वाला यह अर्थ हो जाएगा। यहाँ वार्तिककार आचार्य कात्यायन के वार्तिक द्वारा नियम है कि कर्मधारय से मत्वर्थी कहने की अपेक्षा लघु होने के कारण सीधे बहुब्रीहि समास किया जाए –

(वा॰) 'कर्मधारयमत्वर्थीयाभ्यां बहुब्रीहिर्लघुत्वात् स्यात् '

कर्मधारय से पुनः मत्वर्थी करने पर पहले समास वृत्ति पुनः तद्धित वृत्ति होने से वृत्तिद्वयरूप गौरव की अपेक्षा एक ही बहुब्रीहि वृत्ति में लाघव होने से बहुब्रीहि ही कहना चाहिए। इस वार्तिक के द्वारा पुनरुक्ति दोष का प्रतिपादन आचार्य वररुचि ने किया है। इसी वार्तिक का प्रकारान्तर से प्रतिपादन काव्यशास्त्र में किया गया है -
'न कर्मधारयान्मत्वर्थीयो बहुब्रीहिश्चेत्तदर्थप्रतिपत्तिकरः' इति।

दोषों के सन्दर्भ में ध्यातव्य है कि कुछ दोष स्थल विशेष में रस प्रतीति प्रतिबन्धक होने से दोष कहलाते हैं तो वही स्थल विशेष में रस के उत्कर्षाधायक होने से गुण कहलाते हैं। इसी लिए दोषों में नित्य अनित्य व्यवस्था कही गयी है। कुछ दोष स्थल विशेष में दोष तथा स्थल विशेष में गुण हो जाते हैं तो ये दोष काव्य में सर्वथा त्याज्य नहीं हैं। कुछ च्युतसंस्कृति प्रभृति दोष सभी स्थलों में दोष ही होते ऐसे दोष काव्य में सर्वथा त्याज्य ही हैं।

परन्तु यहाँ दोष के प्रसङ्ग में यह तथ्य ध्यातव्य है कि यदि वह दोष अव्युत्पत्तिकृत दोष है तो वह कवि की शक्ति से तिरोहित हो जाता है, परन्तु वह दोष यदि अशक्तिकृत दोष है तो वह झटित ही भाषित हो जाता है।

अव्युत्पत्तिकृतोदोषः शक्त्या संवृयते कवेः।

किन्त्वशक्तिकृतः दोषः झटित्येवावभाषते॥[7]

इस प्रकार सिद्ध होता है कि साहित्य शास्त्र व्याकरण शास्त्र का परिशिष्ट है।

[7] ध्वन्यालोक।